अन्वेषण

(सप्तदश सर्ग)

कृपाचार्य

सार छंद

पर केन्द्रित है सारा परिचय,
नर का इस वसुधा पर।
दृष्टि न जा पाती इस कारण,
उसकी आत्म सुधा पर।
अन्यों से सन्दर्भित सारा,
जग का ताना वाना।
रथ से है व्यापार सुचालित,
रथी रहा अनजाना।।१।।

जब कोई भी नहीं अन्य है,
किसको परिचय देना।
सार्थकता क्या जाति वंश की,
नामों से क्या लेना।
एकाकी नर क्या बन सकता,
बल विद्या का मानी।
महाशून्य में व्यर्थ भटकता,
दिव्यास्त्रों का ज्ञानी।।२।।

सहचर उसे बनाऊँ तत्क्षण,
यदि प्राणी पा जाऊँ।
जीव मात्र की सन्निधि[1] निधि है,
प्रमुदित समय बिताऊँ।
हेयोपादेयता दूर की,
आज कल्पना लगती।
अवर श्रेष्ठ की पुरा मान्यता,
व्यर्थ जल्पना[2] लगती।।३।।

देखे दारुण दृश्य नाश के,
किन्तु न हुआ विरागी।
हर संगर के बाद युयुत्सा[३],
का ही नर अनुरागी।
मात्र युधिष्ठिर का अशोक का,
हृदय हुआ परितापी।
किस जेता ने यहाँ गहनता,
करुणा की है मापी ।।४।।

जिन भूखण्डों हेतु लड़े थे,
नर समाज के नेता।
कर भीषण संहार बने थे,
कुछ वर्षों तक जेता।
कहाँ गये दुर्दम्य विजेता,
निर्जन भूमि पड़ी है।
एक एक पग भूमि हेतु नर,
की वलि यहाँ चढ़ी है ।।५।।

सुविधा और सुरक्षा की है,
जग में खोज चिरन्तन[४]।
सब उद्योग इन्हीं पर केन्द्रित,
रहे और सब चिन्तन।
इस तट द्वय के बीच प्रवाहित,
भौतिक उन्नति धारा।
जिसमें नर समुदाय डूबता,
उतराता है सारा ।।६।।

क्षमताएं खोता जाता नर,
क्रमशः सुविधा भोगी ।
प्रतिमुख चलता है निसर्ग के
चिर तक यह भव रोगी ।
देहदास बनकर जीता है,
जीवन द्वन्द्व बनाता ।
उष्ण शीत गति जीत प्रकृति जय,
की घोषणा कराता ।।७।।

नहीं प्रकृति पर विजय, विजयिनी,
छल से प्रकृति हुई है ।
जब से देह स्वामिनी दासी,
चेतन शक्ति हुई है ।
वपु का शासन भी तो शासन,
संसृति का ही होता ।
किन्तु मनुज इस सहज वोध को,
भूल तिमिर में सोता ।।८।।

किन्तु सुरक्षा के सव उद्यम,
पाते यहाँ विफलता ।
नश्वर को नश्वर साधन से,
मिलती कहाँ अमरता ।
क्षण परिणामी तीव्र वाहिनी,
इस संसृति की धारा ।
कौन रोक सकता प्रवाह को,
वृथा बुद्धि बल सारा ।।६।।

निज भावी क्षय भीतितप्त हो,
चिन्तित रहता मन में ।
क्षेम खोजता परम विकल हो,
जनबल में या धन में ।
जो जिजीविषा[५] सहज जीव में,
शोषण प्रेरक बनती ।
संसाधन स्वामित्व लड़ाई,
संस्कृतियों में ठनती ।।१०।।

फिर इस मोषण[६] हेतु खोजता,
नर नित नये बहाने ।
धर्मयुद्ध के छद्म मनुज का,
लगता रक्त बहाने ।
कहता कभी सुसंस्कृत हमको,
पिछड़ों को करना है ।
शोषण को रोकना अज्ञता,
मानव की हरना है ।।११।।

जो जितना प्रभविष्णु भीत है,
वह उतना ही मन में ।
शंका की सर्पिणी सरकती,
भीतर ऐसे जन में ।
जब तक निर्द्वन्द्वता नहीं है,
मुक्त न उर का गायन ।
रह जाता अज्ञात मनुज को,
जीवन दिव्य रसायन ।।१२।।

गीतिका छन्द

ध्यान अब कितना लगाऊँ तपस्या कितनी करूँ ।
कौन अब मेरा सहायक समस्या अपनी हरूँ ।
खोजते में थक गया हूँ क्षुद्र से भी जीव को ।
पुनः मैं कर सकूँ स्थापित रुचिर जीवन नींव को ।।१३।।

सत्व[७] यदि बचते धरा पर त्वरित करता मित्रता ।
खा गई उनको परस्पर मनुज जात अमित्रता ।
सोचता था युयुत्सा की मिटेगी अति मूढ़ता ।
किन्तु क्या अवगम्य[८] है नर चिन्तना की गूढ़ता ।।१४।।

अठारह अक्षौहिणी दल अहं की बलि चढ़ गया ।
रौंदता सब मूल्य मानव नाश पथ पर बढ़ गया ।
पतन था चुभता हृदय को हर मनुज के नेत्र को ।
भूल क्यों इस शीघ्रता से गया नर कुरुक्षेत्र को ।।१५।।

ली बढ़ा जनशक्ति अर्जित सम्पदा की यत्न से ।
रहे कुछ दिन मुदित होकर, धरा के शुभ रत्न से ।
किन्तु हिंसा राक्षसी ने शीघ्र तुमको छल लिया ।
नाश में तुमने नियोजित सकल प्रतिभा बल किया ।।१६।।

कहाँ होगा भटकता प्रिय गौतमी का वह तनय ।
सह्य था जिसको न किञ्चित बन्धुकृत भी तो अनय ।
बालपन में जो मधुर वात्सल्य का आधार था ।
प्रीति का परितोष निश्छल स्नेह का जो सार था ।।१७।।

दीप्त वह वपु अरुणिमा युत शिरोरुह की कालिमा ।
द्युति विचित्रा दशनगण[९] की रदपुटों की लालिमा ।
प्रखरता पावन धवलता गहनता उस दृष्टि की ।
बसी अब तक वृद्ध उर में पूत प्रतिमा सृष्टि की ।।१८।।

श्रुति सुखद वाणी पगी थी, सुधामय ज्यों स्नेह में ।
चपलता ऊर्जस्विता थी देह के उस गेह में ।
ग्रहणशीला थी सुमेधा थी विचित्र कुशाग्रता ।
विविध विद्या सीखने की सदा रहती व्यग्रता ।।१६।।

अल्पतोषी मिताहारी ज्ञान में ईर्ष्यालु था ।
आशुकोपी[१०] था भले ही पर अतीव दयालु था ।
अनय के प्रतिकार हित वह धारता था क्रूरता ।
विप्रता से भी अधिक थी ख्यात उसकी शूरता ।।२०।।

सह नहीं पाता कभी था विप्र के अपमान को ।
तूर्ण होता था समुद्यत निकृति[११] के अवसान[१२] को ।
ज्वलित होता हुताशन[१३] सा कोप के आवेग में ।
क्षिप्त होते थे बलोद्धत प्रवल उसके वेग में ।।२१।।

क्षुब्ध इतना हो गया मम कर्णकृत अपमान से ।
दुर्वचन कहता बढ़ा असि खींच अपने म्यान से ।
किया विस्मृत नृपति का हित द्वन्द्व की अति ठानकर ।
बढ़ा वृष[१४] की ओर उसको अरि परम निज मानकर ।।२२।।

अतुल वैकर्तन[१५] सुविक्रम सख्य प्रबल नरेश का ।
बना प्रतिरोधी न क्षण को कोप के उस वेश का ।
प्रार्थना ही सुयोधन की और मेरी वर्जना ।
कर सकी उपशमित[१६] उसकी बज्र तुल्या गर्जना ।।२३।।

किन्तु गुण ग्राही परम था थी अतीव उदारता ।
द्रोण वध उपरान्त जब कुरु का लगा मन हारता ।
वीर थे बैठे नतानन क्षुब्ध थे सब खिन्न थे ।
द्रोण के प्रिय तनय के पर भाव सबसे भिन्न थे ।।२४।।

प्रिय पिता को खो दिया फिर भी न छोड़ा नीति को ।
शत्रु दल जय जनित करता दूर दल की भीति को ।
लगा कहने अब बनाओ चमूपति![१७] अंगेश को ।
भरो नव उत्साह त्यागो दैन्य के परिवेश को ।।२५।।

शक्र के सम विक्रमी दुर्वार हैं यमराज से ।
शस्त्रधर यह शोभते लंकेशजित रघुराज से ।
वाहिनी नायक कुशल शिवपुत्र[१८] सम राधेय हैं ।
शौर्य इनका गेय बल कौशल सदा अप्रमेय है ।।२६।।

वीर हैं पाण्डव भले ही कर्ण अपराजेय हैं ।
किरीटी वध में सुसक्षम मात्र अब राधेय हैं ।
तथ्यसंगत तर्कयुक्ता नीतियुत गरिमा भरी ।
सर्व स्वीकृति पा चुकी थी द्रौणि की वाणी खरी ।।२७।।

कर न पायी मलिन मानस कर्णकृत उद्दण्डता ।
ढँक न पायी बुद्धि विमला जनक शोक प्रचण्डता ।
चमूपतिपद लोभ मानस में कभी आया नहीं ।
मूक हो अन्याय सहना, वीर को भाया नहीं ।।२८।।

दी चुनौती शिखण्डी ने बाण कतिपय छोड़कर ।
करी आलिंगित स्वयं ही ज्यों पराजय दौड़कर ।
दण्ड देने शत्रु को तब द्रौणि के सायक चले ।
पक्ष धर मानो त्वरित गति उड़ उरग नायक चले ।।२९।।

तुरग[१९] दल भूगत हुआ फिर था अचेतन सारथी ।
कटा ध्वज रथ हीन होकर गिरा दृप्त महारथी ।
सातवें दिन देख कौशल समर भू में वीर का ।
कौन कह सकता कभी था पड़ा टोटा क्षीर का ।।३०।।

आठवें दिन भीम भीषण रण वहाँ थे कर रहे ।
सुयोधन सायक व्रणों से देह उनकी भर रहे ।
व्यथित थे आधात सह कर समर में वे वीरवर ।
चतुर्दिक उनको दिखाई दे रहा था अरि निकर ।।३१।।

बढ़ चले अभिमन्यु वर्धितमन्यु[२०] तब ललकारते ।
सुयोधन की ओर, कौरव पक्ष को संहारते ।
और वह हैडिम्ब[२१] दौड़ा रावणानुज[२२] सा बली ।
तमोविग्रह सा चला वह अंधकासुर सा छली ।।३२।।

पीत लोचन असित[२३] देही अकचशिर[२४] हैडिम्ब था ।
लिए तोमर बढ़ रहा ज्यों काल का प्रतिबिम्ब था ।
शत्रुओं के मध्य अब कुरुराज आपद ग्रस्त थे ।
महारथियों से घिरे वे पूर्णतः संत्रस्त थे ।।३३।।

देख यह त्राणार्थ उसके द्रोण थे तब बढ़ चुके ।
तीक्ष्ण सायक भीम के पृथु[२५] वक्ष में थे गढ़ चुके ।
किन्तु प्रत्युत्तर दिया गुरु को शरों से बेधकर ।
हुए मूर्च्छित एक क्षण को बाण थे अति खेदकर ।।३४।।

कृपीसुत दौड़ा तभी मानी सुयोधन साथ थे ।
त्वरित शर मोचन क्रिया में व्यस्त उनके हाथ थे ।
वृकोदर को दण्ड देने हेतु वे अति व्यग्र थे ।
चतुर्दिक छा गये उनके बाण परम उदग्र थे ।।३५।।

भीम के त्राणार्थ उनका आ गया था प्रिय सखा ।
स्वाद जिसकी वीरता का कौरवों ने था चखा ।
अरे द्रौणायनि ठहर ! यूँ चला वह ललकारता ।
कंक पक्षों युक्त अविरत निशित सायक मारता ।।३६।।

रूपमाला छन्द

शूर है जनता जहाँ की रम्य देश अनूप ।
प्रिय सखा था भीम का उस राज्य का वह भूप ।
वीरवर सम्मान्य मानी विपुल प्रहरण[२६]-शील ।
भीम रक्षा हेतु आया वह महाबल नील ।।३७।।

कर दिया शर मार उसने द्रोणसुत को क्रुद्ध ।
सुप्त विषधर को किया ज्यों जानकर उद्बुद्ध ।
द्रौणि ने छोड़े त्वरित ही सात भास्वर भल्ल ।
चकित था अवलोक कौशल नील आहव[२७] मल्ल ।।३८।।

व्यसु[२८] हुआ घोटक[२९] चतुष्टय सारथी निष्प्राण ।
कट गया ध्वज और नृप का छिन्न था तनुत्राण ।
एक भल्ल हुआ भयावह हृदय मध्य प्रविष्ट ।
व्यथित नील हुआ त्वरित निज यान में उपविष्ट ।।३९।।

देखकर रण विमुख उसको और अति अवलीढ़[३०] ।
छोड़ आगे बढ़ गया वह द्रोणसुत अरिपीड[३१] ।
यदपि होता उग्र क्षण को आशु होकर क्रुद्ध ।
कार्य कुछ करता नहीं था तनय नीति विरुद्ध ।।४०।।

गीत

धर्म का तत्व कहाँ जाना ।
व्यर्थ सदा से धरता आया मैं यह मुनिबाना ।।

किए शास्त्र कण्ठस्थ यत्न से ।
विधियाँ सब साधीं प्रयत्न से ।
हुआ न परिचय अमल रत्न से ।
पुस्तक को माना
धर्म का तत्व कहाँ जाना ।
व्यर्थ सदा से धरता आया मैं यह मुनिबाना ।।

हो जाता यदि परिचय ऋत से ।
बच जाते यदि विषम अनृत से ।
रहते दूर अहा अपकृत[३२] से ।
पर क्या पहचाना ।
धर्म का तत्व कहाँ जाना ।
व्यर्थ सदा से धरता आया मैं यह मुनिबाना ।।

भूखण्डों में सिमटी निष्ठा ।
लगे रुचिर पद और प्रतिष्ठा ।
थी महत्व कामना गरिष्ठा ।
यश था जो पाना ।
धर्म का तत्व कहाँ जाना ।
व्यर्थ सदा से धरता आया मैं यह मुनिबाना ।।

पक्षपात से ग्रस्त हुए थे ।
कभी कहाँ सन्यस्त हुए थे ।
आत्माराधन व्यस्त हुए थे ।
अब क्या पछताना ।
धर्म का तत्व कहाँ जाना ।
व्यर्थ सदा से धरता आया मैं यह मुनिबाना ।।

किए तर्क शर ही बस पैने ।
क्या उपयोग किया है मैंने ।
काटे प्रतिपक्षी के डैने ।
अब क्या झुठलाना ।
धर्म का तत्व कहाँ जाना ।
व्यर्थ सदा से धरता आया मैं यह मुनिबाना ।।

सबको धर्म कर्म समझाया ।
दर्शन ग्रन्थिजाल सुलझाया ।
और स्वयं को ही उलझाया ।
किन्तु न मन माना । ।
धर्म का तत्व कहाँ जाना ।
व्यर्थ सदा से घरता आया मैं यह मुनिबाना । । ४१ । ।

कभी यह वसुधा हरी भरी थी ।
निकल अद्रि से तेज भागती उज्वल सार सरी[33] थी ।
संसृति के शोभन मानस में तिरती जीव तरी थी ।
कहाँ धुँधलका ऐसा तब तो स्वर्णिम धूप खरी थी ।
वनदेवी जो धारण करती साड़ी पीत हरी थी ।
घूम-घूम कर मृग छौनों ने कोमल दूब चरी थी ।
कहाँ गयी सब शोभा धरणी ने जो हाय धरी थी । । ४२ । ।

धिक ! धिक ! हे कटु आयत जीवन ।
देखा अन्त सभी स्वजनों का भाँति भाँति के दुर्दिन ।
रोदन प्रथम सुना शैशव का किलक सुनी प्रमुदित मन ।
अमल हास परिहास सुना सिसकियाँ सुनी फिर क्रन्दन ।
रीता हुआ अनेक बार यह परिपूरित जीवन धन ।
बने धाम अति भव्य मनोरम गये लगाए उपवन ।
कहाँ सभी खो गये नहीं हैं जीवन का अब स्पन्दन । । ४३ । ।

लगी वानर के हाथ मशाल ।
विस्फोटक कर लिए इकट्ठे फैंके सुफल रसाल ।
करली बुद्धि सुविकसित रचकर माया जाल विशाल ।
बल जितना था बढ़ा हुआ गर्वोन्नत उतना भाल ।
शोषित कर सारे संसाधन बना भूमि प्रतिपाल ।
समझ न पाया हाय स्वयं वह अपने मन की चाल ।
भस्मासुरवत किया स्वयं आहूत[34] भ्रान्त हो काल । । ४४ । ।

अहा बल का कैसा उपयोग।
कौन खोजता है आयुध फिर करता कौन प्रयोग ।
प्रतिभा भी हो विपथ गामिनी बनीं महा भव - रोग ।
नाश हेतु क्या कभी सुना था संसाधन विनियोग ।
रहा अशान्त अरे मनु जाए यद्यपि पाए भोग ।
वृत्ति आसुरी बैठ गयी उर फैलाए आभोग ।
सृष्टि सहन करती है अब सर्जन से हाय वियोग ।।४५।।

अरे नर समझा जिसे विकास।
वह था तेरे दिव्य गुणों का क्रमशः होता ह्रास ।
अहंकार पोषण के तूने जितने किए प्रयास ।
रिक्ति भरी क्या उतना कसता गया अरे भव पाश ।
सुख साधन एकत्रण रत था रहा नहीं अवकाश ।
तव भी चेता नहीं मरण था जव अभिमुख अति पास।
काल चक्र को थामा किसने रुकता कहाँ विनाश ।।४६।।

किया क्यों उस दिन नहीं विरोध।
नीति पंथ में डाल रहा था जब मानी अवरोध।
होते रहे प्रहार धर्म पर सम्मुख ही अविरोध ।
वैठे रहे दवाकर उर में हो समर्थ भी क्रोध ।
धर्म विवेचन शक्ति कहाँ थी कहाँ गया था बोध ।
सुनकर भी अनसुना किया था अवला का अनुरोध ।
बने विपक्षी धर्म कर रहा था जब शुभ प्रतिरोध ।।४७।।

चित्र मैंने कुछ आज बनाए।
कृष्ण पीत अरुणिम ही मुझको रंग यहाँ मिल पाए ।
भाँति भाँति के वृक्ष लगाए फल प्रसून दिखलाए ।
गाती कोयल फल खाता शुक मोर पंख फैलाए ।
किए सुचित्रित राजहंस जल मध्य कमल उपजाए ।
वन भी चित्रित किया महिष मृग वृक गज हरि दिखलाए ।
शायद प्राणी नयी सृष्टि का इन्हें देखने आए ।।४८।।

धनुष का अब क्या है करना।
नहीं बचा जब अन्य विश्व में अब किससे डरना ।
जाओ हे कार्मुक निषंग[३५] अब तुम्हें नहीं धरना ।
बहा इसी वसुधा पर कितनी बार रुधिर झरना ।
गया सकल वह प्राणि वर्ग था जिसे नहीं मरना ।
अब है संभव नहीं धरा जननी के व्रण भरना ।
नहीं मरण भी सुलभ मुझे बस एकाकी फिरना ।।४६।।

कहाँ फिरता होगा मम बाल।
परम अजेय द्रोण का सुत वह सदय कृपी का लाल।
प्रांशु[३६] देह अति सारवान बनराज सदृश वह चाल।
शैशव में खींचा करता मम दीर्घ कूर्च के बाल ।
रोने लगता था जब पकड़ो उसके अरुणिम गाल ।
तंग जननि को कर लेता था मुझे बनाकर ढाल।
आता दौड़ा मुझे देख जब लाता पीत रसाल ।।५०।।

दन्त क्यों नहीं धेनु के अम्ब।
टूट गये हैं या आए ही नहीं बता अविलम्ब ।
निचली दशन राजि का ही है पुत्र इसे अवलम्ब ।
तेरे प्रश्नों के उत्तर दें मनु या आपस्तम्ब[३७]।
मुझे छोड़ पूजा में होता देखो वहुत विलम्व ।
टाल रही तू लूँगा अबसे मातुल का अवलम्व ।
नहीं तनय तेरा मैं अब तू नहीं हमारी अम्ब ।।५१।।

काल बहु एकाकी बीता।
जर्जर यह वपु आज बचा है मात्र घड़ा रीता ।
हारा था संग्राम किन्तु अब मानस रण जीता।
संसृति हुई प्रलय से देखो कैसी परिणीता।
पुनः प्रकट हो जाओ श्री तुम ज्यों घट से सीता ।
बुद्धि हुई सहकर यह निर्जन जीवन से भीता ।
सृष्टि नाटिका हो फिर से हे वेधा[३८] अभिनीता ।।५२।।

मन अतिशय क्यों आज विकल है।
चल तुझको मैं पूर्ण रमाऊँ मुझे व्यास सम्बल है।
हरि चर्चा ही भोजन जिनका ज्ञान सुधा ही जल है।
शांति जहाँ राजित होती है करुणा विशद अमल है।
त्रिगुण न बाधक जहाँ नहीं इस प्रकृति नटी का छल है।
सारी जिज्ञासा के उत्तर सब प्रश्नों का हल है।
आत्म - ज्योति दर्शन ही रे मन उस आश्रय का फल है ।।५३।।

प्रसाद छन्द

नैराश्य तमावृत मनयुत,
कृप चले व्यास आश्रम को ।
प्राणों की तृषा मिटाने,
हरने समग्र विभ्रम को ।।५४।।

देखा गौतम को आते,
ऋषि श्रेष्ठ सहज मुसकाए ।
अभिवादनरत कृप के दृग,
सहसा चमके भर आए ।।५५।।

बोले ऋषि विप्र बताओ,
इतने संवत्सर[३६] बीते।
फिरते थे कहाँ विजन में,
जल थल हैं जब सब रीते ।।५६।।

बोले कृप रीता केवल,
यह नहीं बाहरी जग है ।
अन्तर्मन भी सूना है,
अब नहीं सूझता मग है ।।५७।।

गतसत्व सकल वसुधा है,
निष्प्राण और सब जल है ।
उद्यम उन्नति वैभव का,
क्या यही बुद्धि का फल है ।।५८।।

चिन्तक थे सब मेधावी,
बलवान और ओजस्वी ।
भावी दर्शन में सक्षम,
वे मानव महामनस्वी ।।५६।।

नीतिज्ञ और ऋत[४०] ज्ञाता,
पर लिए मौन आ आश्रय ।
बैठे क्यों रहे दृषद[४१] से,
छोड़ी क्यों नीति निराश्रय ।।६०।।

मन को कचोटती रहती,
यह बात आज भी ऋषिवर ।
हम क्षय को रोक न पाये,
रण होता रहा अरुचिकर ।।६१।।

अंकुश क्यों लगा न पायी,
पावन थी यदपि मनीषा ।
निर्बाध बलवती होकर,
जीती वह अशुभ जिगीषा[४२] ।।६२।।

बोले पाराशर दारुण,
गाथा है मानव मन की ।
जिसके दुरन्त विभ्रम से,
होती तय नियति भुवन की ।।६३।।

हम हो निष्पक्ष विचारें,
युग युग में कारण रण के ।
उन्नत संस्कृतियों के भी,
विस्मयप्रद तीव्र क्षरण के ।।६४।।

अज्ञान मात्र से भव का,
विषवृक्ष उदित होता है ।
जिसका फल खाकर प्राणी,
बस और क्षुधित होता है ।।६५।।

उस फल की मादकता से,
है अहंमन्यता आती ।
प्रस्फुटित स्वार्थ फिर होता,
हिंसा की छाया छाती ।।६६।।

हो सिद्ध बिना हिंसा के,
ऐसा है स्वार्थ न जग में ।
परभागगीर्णता[४३] मिलती,
स्वाभाविक स्वार्थ उरग में ।।६७।।

पहले यह हिंसा केन्द्रित,
होती अजैव तत्वों पर ।
अभिमुख हो जाती क्रमशः
फिर जग के कुछ सत्वों पर ।।६८।।

फिर भूत मात्र आ जाते,
इस निष्ठुर भक्ष्य परिधि में ।
मानता मूढ़ मानव है,
हो रही वृद्धि सुख निधि में ।।६९।।

हिंसा दूषित मन क्रमशः
फिर नर को लक्ष्य बनाता ।
निर्बल जन बली दनुज का,
सुख पूर्ति वस्तु बन जाता ।।७०।।

अतुलित बल हिंसा कृत्या[४४],
होती अवार्य फिर अतिशय ।
मानव से ही मानव को,
लगने लगता है अतिभय ।।७१।।

होता प्रतीत यदि नर को,
प्रिय जन भी स्वार्थ विरोधी ।
उसको विनष्ट करने में,
चूकता नहीं अति क्रोधी ।।७२।।

हिंसना यही फिर मन की,
महिषी बन शासन करती ।
संकोच रहित हो पर का,
निज जन का प्राशन[४५] करती ।।७३।।

दुष्पूर्य[४६] अहं है नर का,
सारी सम्पदा भुवन की ।
होती न तुष्टिकर क्षण को,
फिर शान्ति कहाँ है मन की ।।७४।।

तृष्णा ही विवश मनुज से,
है नर्तन नित्य कराती ।
सिद्धियाँ विफलता दोनों,
ही नर को यहाँ हरातीं ।।७५।।

उर्वर है मन मानव का,
अगणित इच्छाएं जग में ।
गन्तव्य[४७] न पाता कोई,
चलता रह जाता मग में ।।७६।।

बस पञ्च तत्व निर्मित हैं,
जग के पदार्थ ये सारे ।
जिनको समेटने के हित,
फिरते नर मारे मारे ।।७७।।

दें कुछ विश्राम भले ही,
इस पञ्चतत्व काया को ।
विस्तारित कर जाते हैं,
पर वे दुरूह माया को ।।७८।।

पाता पदार्थ श्रम करके,
मिलते ही हुआ पुराना ।
मन त्वरित नई दौड़ों का,
लेता है खोज बहाना ।।७९।।

मिल मिल कर भी क्या मिलता,
जारी रहती मृग - तृष्णा ।
होती परन्तु क्या जग से,
सहकर भी दुःख वितृष्णा[४८] ।।८०।।

सुख शांति न देती उर को,
दुष्प्राप्या बहु धनवत्ता ।
कितनों को सुख दे पायी,
अर्जित श्रम से प्रभुसत्ता ।।८१।।

संसार त्वरित गति से यह,
परिवर्तित होता जाता ।
प्रतिपल रूपाकृति अपनी,
बेचारा खोता जाता ।।८२।।

यद्यपि करता गृहणेच्छा,
शाश्वत इस जड़ गत्वर[४६] की ।
संगति कैसे हो सकती,
भास्वर से भव नश्वर की ।।८३।।

है मूल यही दुःखों का,
तुम अचल, और जग चल है ।
तुम चेतन और अमल हो,
यह जड़ है विकृति विकल है।।८४।।

पुरुषार्थ अमित करने से,
मैं नहीं रोकता जन को ।
पर सदा जानना साधन,
मत साध्य मानना धन को ।।८५।।

दिव्यता, दिव्यता से ही,
बस तृप्त यहाँ हो सकती ।
सारी सम्पदा धरा की,
मन शून्य कहाँ भर सकती ।।८६।।

आओ प्रशान्त हो बैठें,
रोकें मन की हलचल को ।
भावी का स्वप्न न देखें,
भूलें सुख दुःख मय कल को ।।८७।।

घनाक्षरी

मानता हूँ ज्ञानवान भू पर मनुष्य वही,
भूति हेतु पाठ पूर्ण सीख ले अतीत से ।
युद्ध घोष से न मिला मोद है किसी को यहाँ,
सम्पदा सुखों की नहीं शस्त्रजन्य जीत से ।
वैभव अदभ्र[५०] भी बनेगा वेदना का स्रोत,
यदि है अजान जीव जीवन के गीत से ।
छोड़ व्यग्रता समस्त वासना का जाल तोड़,
मोड़ वृत्ति जान ले जुड़ा स्वयं पुनीत से ।।८८।।

संशय के मेघ घोर छा रहे हों मानस में,
धूमिल अदूरदर्शिनी हुई जो दृष्टि हो ।
अक्षमा हो बुद्धि धर्म कर्म के निरूपण में,
शंका सौदामिनि[५१] हो अनुशय की वृष्टि हो ।
चाहिए मनुष्य को मनीषियों का आश्रय ले,
जिससे जगे विवेक भ्रान्ति की विसृष्टि[५२] हो ।
रहते हैं ईश्वर के अंश लोकमंगलार्थ,
सत्यपथ निदेशणार्थ कोई भी सृष्टि हो ।।८९।।

सन्दर्भ सूची

१. साथ, समीपता, २. प्रलाप, ३. युद्ध की इच्छा, ४. शाश्वत, ५. जीने की इच्छा, ६. चुराने की क्रिया, ७. प्राणी, ८. जानने योग्य समझने योग्य, ९. दाँतो का समूह, पंक्ति, १०. शीघ्र क्रुद्ध हो जाने वाला, ११. दुष्टता - अपमान, तिरस्कार, १२. समापन, १३. अग्नि, १४. कर्ण, १५. कर्ण, १६. शान्त, १७. सेनापति, १८. कार्तिकेय, १९. घोड़े, २०. बढ़े हुए क्रोध वाला, २१. घटोत्कच, २२. कुंभकर्ण, २३. काले वर्ण के शरीर वाला, २४. केश हीन शिर वाला, २५. चौड़ा, विशाल, २६. अस्त्र, २७. युद्ध क्षेत्र का वीर, २८. निष्प्राण, २९. चार घोड़ों का समूह, ३०. घायल, ३१. शत्रु को पीड़ा देने वाले, ३२. दुष्कर्म, ३३. नदी, सरिता, ३४. बुलाया गया, ३५. तूणीर, ३६. लम्बा, ३७. प्रसिद्ध नीति विद् तथा ऋषि जो मनु तथा याज्ञवल्क्य के समकक्ष थे, ३८. ब्रह्मा, ३९. वर्ष, ४०. सत्य, ४१. पत्थर, शिला, ४२. जीतने की इच्छा, ४३. दूसरे का भाग निगलने की प्रवृत्ति, ४४. राक्षसी, तांत्रिक विधि से उत्पन्न, पिशाची, ४५. भोजन भक्षण, ४६. जिसकी पूर्ति कठिन है, ४७. लक्ष्य, मंजिल, ४८. विरक्ति, ४९. गतिशील, ५०. प्रचुर, ५१. विद्युत, ५२. विसर्जन।